गुरु का महत्त्व

श्रीमती सुशीला बोहरा

प्रस्तुत आलेख में गुरु के महत्त्व को विभिन्न उद्धरणों, उदाहरणों एवं विचारों से पुष्ट किया गया है। **-सम्पादक**

गुरु की महिमा अपरम्पार है । गुरु शब्द से ही मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है। वह शिष्य को अज्ञानरूपी अंधकार से निकाल कर ज्ञान रूपी प्रकाश के दर्शन कराता है, ऐसे गुरु को देव तुल्य माना गया है। कहा भी है -

गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म, तस्मै श्री गुरवे नमः।।

गुरु ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर है वही साक्षात् परम ब्रह्म है, ऐसे गुरु को नमस्कार है । गुरु हमें हिताहित का ज्ञान कराता है। माता-पिता बच्चों को जन्म देकर उनका पालनपोषण करते हैं, लेकिन गुरु जीवन का निर्माण करते हैं। जन्म देने वाले प्रातःस्मरणीय एवं वन्दनीय होते हैं जो हमें दुनियाँ दिखाते हैं लेकिन आध्यात्मिक गुरु तो उससे भी अधिक पूजनीय होते हैं जो मोक्ष का मार्ग दिखाकर जन्ममरण की शृंखला को ही समाप्त कर जन्मातीत होने में प्रेरक होते हैं । जहाँ जन्म नहीं, जरा नहीं, मरण नहीं, रोग नहीं, शोक नहीं, दुःख नहीं, दारिद्र्य नहीं, कर्म नहीं, काया नहीं, मोह नहीं, माया नहीं, ज्योति में ज्योति स्वरूप होने का सौभाग्य मिलता है।

जो अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर ज्ञान रूपी प्रकाश दिखाये वह गुरु होता है। वैसे सामान्य दृष्टि से जिससे हम कुछ सीखते हैं वह गुरु है,चाहे वह आध्यात्मिक गुरु हो या शैक्षिक । शैक्षिक गुरु हमें अक्षरज्ञान सिखा कर रोजीरोटी कमाने लायक बनाता है अर्थात् पेट एवं पेटी भरने की शिक्षा देता है, लेकिन आध्यात्मिक गुरु हमें ठेठ की शिक्षा देता है, अर्थात् जीवन-लक्ष्य को प्राप्त करने का सुगम उपाय बताता है।

जैन दर्शन की दृष्टि से ऐसा आध्यात्मिक गुरु वही हो सकता है जो -

सो हु गुरु जो णाणी, आरम्भपरिग्गहा विरओ।
पंचिंदिय-संवरणो, तह नवविह बंभचेरगुत्तिधरो।।

-जैन तत्त्व प्रकाश, 21

वही गुरु है जो ज्ञानी है, आरम्भ एवं परिग्रह से विरत है, पाँचों इन्द्रियों को संयत रखने वाला है तथा जो नौ प्रकार से ब्रह्मचर्य की गुप्ति का धारक है। ऐसे गुरु स्वयं निर्दोष मार्ग पर चलते हैं और बिना किसी स्वार्थ के

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्य प्राणियों को उस मार्ग पर चलने हेतु प्रेरित करते हैं।

जो स्वयं तिरते हुए दूसरों को तारने में समर्थ हैं, जो सिद्धान्त का सही ज्ञान कराने, सुगति और कुगति के मार्ग एवं पुण्य-पाप का विवेक कराने, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का सम्यग् ज्ञान कराने वाले हैं वे गुरु हैं उनके सिवाय भवसागर पार कराने वाला जहाज और कौनसा हो सकता है?

विषयों की आशा नहीं जिनको, साम्यभाव धन रखते हैं,
निज पर के हित साधन में, जो निशदिन तत्पर रहते हैं।
स्वार्थ-त्याग की कठिन तपस्या, बिना खेद जो करते हैं,
ऐसे ज्ञानी साधु जगत् के, दुःख समूह को हरते हैं।।

अब स्कूल कॉलेजों में केवल नामधारी शिक्षक/ गुरु रह गये हैं, जो कक्षा में पढ़ाते नहीं तथा ट्यूशन के नाम से लाखों, करोड़ों बटोरने में लगे हुए हैं। ऐसे शिक्षक गुरु कहलाने के अधिकारी नहीं। आज तो कई धार्मिक कहे जाने वाले भी गुरु कहलाने के अधिकारी नहीं। वे कथा एवं प्रवचन के नाम से लाखों बटोरने में लगे हुए हैं । ऐसे गुरु के शिष्यों में नैतिकता, सदाचार, प्रामाणिकता एवं ईमानदारी के गुण कहाँ से पनपेंगे ? ऐसे गुरु तारक नहीं हो सकते। नीति कहती है -

लोभी गुरु तारे नहीं, तिरे तो तारण हार।
जो तू तिरणो चाहे तो, निर्लोभी गुरु धार।।

अर्थात् लोभी गुरु किसी को संसार सागर से पार नहीं उतार सकता। वह ही हमें तार सकता है जो स्वयं तिरने में समर्थ है। अतएव यदि हमें वास्तव में तिरना है तो निर्लोभी गुरु को ही धारण करना होगा अन्यथा वह स्वयं भी डूबेगा और हमें भी ले डूबेगा।

नीति भी यही कहती है -

बिल्ली गुरु बगुला किया, दशा उजली देख।
कहो कालू कैसे तिरे, दोनों की गति एक।।

बिल्ली यदि बगुले के सफेद रंग को देखकर उसे अपना गुरु बनाले तो यह ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रकार बिल्ली का ध्यान चूहा पकड़ने में रहता है उसी प्रकार बगुला भी मछली खाने के लिये पानी में एक पैर पर ध्यान की मुद्रा में खड़ा होता है और मछली देखते ही उसे गटक जाता है। दोनों की गति समान ही है । ऐसे ही कुछ भौतिक रंग में रंगे स्वार्थी गुरु हो सकते हैं जो अपने स्वार्थ, प्रतिष्ठा एवं सम्मान के लिये शिष्यों/जनसाधारण को झूठे प्रदर्शन एवं महोत्सवों में उलझाये रखते हैं और अपना मतलब गाँठते रहते हैं। इसलिये मारवाड़ी में कहावत है कि ''गुरु कीजे जाण कर और पाणी पीजे छाणकर'' यानी गुरु का चयन बहुत सोच समझ कर आत्मार्थ को दृष्टि में रखकर करना चाहिए।

आत्मार्थी गुरु के लक्षण बतलाते हुए कहा है -

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदय प्रयोग।
अपूर्व वाणी परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य।।

अर्थात् जो आत्म ज्ञानी है, परभाव की इच्छा से रहित हो गया है, तथा शत्रु – मित्र , हर्ष-शोक, सत्कार-तिरस्कार आदि के प्रति समताभाव रखता है, जो पूर्वकृत कर्मों के उदय के प्रति जागृत रहते हुए क्रियाएँ करता है, जिसकी वाणी अपूर्वता की द्योतक है तथा श्रुत ज्ञान का ज्ञाता है, वही सद्गुरु कहलाने का अधिकारी है। हमारी संस्कृति में ऐसे गुरु को ही महत्त्व दिया गया है – यथा

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव।।

कभी सती मदालसा ने मां के रूप में, कृष्ण ने पिता-पति-भाई के रूप में तथा, महासती चन्दना ने भाणजी के रूप में गुरु बनकर तिराने का काम किया है।

इतना आदर , सत्कार, सम्मान गुरु को क्यों दिया, इसको स्पष्ट करते हुए ऋषि कह रहे हैं –

अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरवे नमः।।

वे अज्ञान रूप अन्धकार को मिटाने के लिये ज्ञानरूपी अंजनशलाका से चक्षु को खोल देते हैं, अर्थात् सही आन्तरिक दृष्टि प्रदान कर देते हैं । ऐसे वन्दनीय गुरु वही होते हैं जो देह में रहते हुए देहभाव से विरत होते हैं अर्थात् देह की ममता से ऊपर उठे हुए केवल आत्मभाव में रमण करते हैं, ऐसे गुरु के प्रति समर्पण भाव कैसा हो?

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः, पूजामूलं गुरोःपदम्।
मंत्रमूलं गुरोर्वाक्यं, मोक्षमूलं गुरोःकृपा।।

ऐसा समर्पणभाव एकलव्य में था। द्रोणाचार्य राजगुरु थे और एकलव्य एक गरीब अनाथ बालक। वह उनसे धनुर्धारी बनने की शिक्षा नहीं ले सकता था, अतः उसने जंगल में गुरु द्रोणाचार्य की मूर्ति बनाकर उनकी साक्षी में धनुष-बाण चलाने में अर्जुन से भी अधिक कुशलता हासिल करली। लेकिन द्रोणाचार्य ने अपने शिष्य अर्जुन को धनुर्विद्या में प्रथम पंक्ति में रखने के लिये गुरु दक्षिणा में एकलव्य से अंगूठा मांग लिया और शिष्य एकलव्य भी ऐसा जिसने गुरु के कहने पर वर्षों की धनुषबाण की साधना का महत्त्वपूर्ण अंग अंगूठा भेंट कर अपना नाम इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में अमर कर दिया।

हमारे प्राचीन इतिहास में ऐसे कई गौरवशाली कथानक हैं कि शिष्यों ने गुरु दक्षिणा में अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिया। अयोध्यापति महाराजा हरिश्चन्द्र ने अपने गुरु वशिष्ठ के मांगने पर अपना सम्पूर्ण राज्य उनके चरणों में समर्पित कर दिया था। क्योंकि उन्हें गुरु में इतना विश्वास था कि इसमें भी मेरा कुछ भला है इसलिये उन्होंने ऐसी मांग रखी है। वास्तव में यदि वशिष्ठ ऐसी मांग नहीं करते तो क्या महाराजा हरिश्चन्द्र

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

युगों-युगों तक सत्यवादी हरिश्चन्द्र के नाम से विख्यात हो सकते थे? उनकी भी वही गति होती जो अन्य अनगिनत राजा-महाराजाओं की हुई। गुरु पर ऐसी श्रद्धा-भक्ति होने पर ही ऐसी फलश्रुति होती है।

वे गुरु दक्षिणा भी उन्हीं से लेते हैं तथा ऐसा ज्ञान भी उन्हें ही देते हैं जिन्हें वे इस योग्य समझते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि- पात्र बिना वस्तु न रहे, पात्रे आत्मिक ज्ञान। अर्थात् अनुकूल पात्र के बिना वस्तु भी नहीं रहती। शेरनी का दूध सोने के पात्र में ही सुरक्षित रह सकता है वैसे ही सद्ज्ञान भी हर शिष्य पचा नहीं सकता। भद्रबाहु स्वामी ने इसी कारण तो स्थूलिभद्रजी को 10 पूर्वो के ज्ञान के बाद अपनी बहिनों के सामने शेर के रूप में प्रदर्शन करने पर उन्होंने संघ के विशेष अनुरोध से अन्तिम चार पूर्वो की वाचनी तो दी, लेकिन उसका रहस्य नहीं बताया। आत्मार्थी साधक रायचन्दजी ने गुरु की महिमा को बताते हुए कहा है-

प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार।
एवो लक्ष्य थया बिना, ऊगे न आत्मविचार।।

सद्गुरु के प्रत्यक्ष योग बिना तथा परोक्ष में तीर्थंकर परमात्मा के उपकार के प्रति अनन्य श्रद्धा भक्ति हुए बिना आत्मविचार, आत्मचिन्तन तथा आत्मदर्शन सम्भव नहीं है, क्योंकि-

मानादिक शत्रु महा, निज छंदे न मराय।
जातां सद्गुरु शरणमां, अल्प प्रयासे जाय।।

मानादिक कषाय आत्मोत्थान में महान शत्रु हैं। वे स्वयं के प्रयास से जल्दी जाते नहीं, क्योंकि स्वयंपाठी होने पर अपनी विद्वत्ता पर अहंकार अथवा घमण्ड आ जायेगा, लेकिन सद्गुरु के चरणों में जाने से अल्प प्रयास से ही कषायादि तिरोहित हो सकते हैं।

गुरु भटके हुए शिष्य को सही मार्ग पर लगा सकता है। कल्याणमन्दिर स्तोत्र के रचयिता श्री सिद्धसेन दिवाकर गुरु से हठ करके न्याय दर्शन सीखने बौद्ध गुरुओं के पास चले गये। वहाँ मान-सम्मान पाकर वे इतने गृद्धित हो गये कि बौद्ध धर्म के आचार्य पद पर आसीन होने की स्वीकृति दे दी। लेकिन अचानक उन्हें गुरु आश्रम से प्रस्थान के पूर्व गुरु का अन्तिम वाक्य स्मृति में आ गया कि कुछ अन्यथा ग्रहण करने पर आशीर्वाद लेने अवश्य आना। वे गुरु दर्शनार्थ आये, लेकिन वंदन की औपचारिकता देख गुरु भांप गये कि शिष्य भटक गया है। उन्होंने शिष्य को दशवैकालिक शास्त्र हाथ में देकर जंगल से वापिस आने तक रुकने को कहा। सिद्धसेन दिवाकर ज्यों-ज्यों उसे पढ़ते गये उनकी आँखों से अज्ञान का पर्दा उठने लगा और गुरु के आते ही उनके चरणों में समर्पित हो गये। गुरु ऐसे ही भटके हुए शिष्यों तथा श्रावकों को सही मार्ग पर ले आते हैं। कबीरदास जी तो यहाँ तक कहते हैं -

कबिरा ते नर अंध हैं, गुरु को मानत और।
हरि रूठे गुरु ठोर है, गुरु रूठे नहीं ठौर।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उन्होंने गुरु को इतना महत्त्व दिया कि जो गुरु सम्मान नहीं देता ऐसा व्यक्ति अज्ञानी है। अरे! भगवान के रूठने पर गुरु की शरण में जा सकते हैं, लेकिन गुरु के रूठने पर दुनिया में कोई ठोर अथवा जगह नहीं है। हमारे सद्शास्त्रों में ऐसा कथानक है कि भगवान महावीर के अंतेवासी शिष्य को गौतम स्वामी के उपदेश से रास्ते में ही केवलज्ञान हो गया, फिर भी वे छद्मस्थ गुरु गौतम की वैसी ही विनय भक्ति करते रहे जैसे एक शिष्य करता है। यह स्थिति उस समय स्पष्ट हुई जब भगवान महावीर के समवशरण में वह शिष्य केवलियों की सभा में बैठने जा रहा था और गुरु गौतम ने उन्हें टोका, फिर भी शिष्य मौन रहा। तब भगवान महावीर ने गौतम की शंका का समाधान करते हुए कहा कि केवली का अपमान न करो। यह है गुरु के प्रति विनय भावना का ज्वलंत उदाहरण। अतः गुरु ही तो हमें गोविन्द (सिद्ध) बनने का रास्ता बताता है, इसलिये नमस्कार मंत्र में अरिहन्त भगवन्तों को पहले नमन किया और फिर सिद्ध भगवान को। कहा भी है –

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लाँगू पाय।
बलिहारी गुरु आपकी, गोविन्द दियो बताय।।

-जी-21, शास्त्रीनगर, जोधपुर (राज.)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org